वार्षिक सदस्यता शुल्क - रु. २५/-

स्वानुभूतिप्रकाश

प्रकाशक :
श्री सत्श्रुत प्रभावना ट्रस्ट
भावनगर - ३६४ ००१.

शासननायक अंतिम तीर्थाधिनाथ श्री महावीरप्रभुके निर्वाणकल्याणकके पावन प्रसंग पर उनके चरणोंमें वंदन करके, मंगलमय सुप्रभातकी प्राप्ति करके, अनंत जन्म-मरणकी श्रृंखलाका व्यवच्छेद करनेकी मंगलमय भावनाके साथ स्वानुभूतिप्रकाश परिवार सर्व पाठकवर्गको शुभकामना प्रेषित करता है!!

परम कृपालुदेव श्रीमद् राजचंद्रजीकी जन्मजयंती (कार्तिक पूर्णिमा)के मंगल अवसर पर उनके चरणोंमें कोटि कोटि वंदन!!

उक्त मंगल प्रसंगोंके अवसर पर...

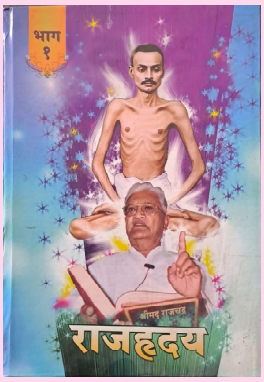

'राजहृदय' भाग १-२

('श्रीमद् राजचंद्र' ग्रंथ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)

जिज्ञासुओंको ट्रस्ट द्वारा भेंट दिये जायेगें।

संपर्क

श्री सत्श्रुत प्रभावना ट्रस्ट

नीरव वोरा मो: ●९८२५०५२९१३

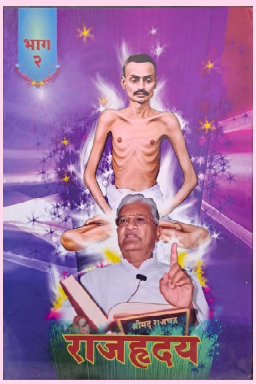

स्वानुभूतिप्रकाश

वीर संवत्-२५४९, अंक-३११, वर्ष-२५, नवम्बर-२०२३

छाशीया गाँवमें वीर सं. २४७५, फाल्गुन वदि ६ के दिन 'श्रीमद् राजचंद्र' वचनामृतमेंसे पत्रांक-१७२ पर पूज्य गुरुदेवश्रीका प्रवचन

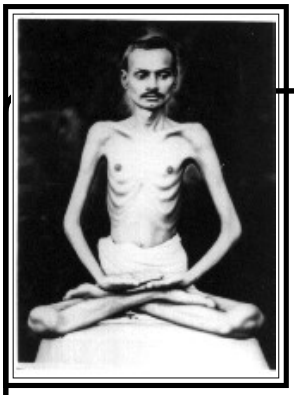

ज्ञानी को क्या संमत है?

पत्रांश - १७२

अनंतकालसे स्वयंको स्वविषयक ही भ्रांति रह गयी है; यह एक अवाच्य और अद्भुत विचारका विषय है। जहाँ मतिकी गति नहीं, वहाँ वचनकी गति कहाँसे हो?

निरंतर उदासीनताके क्रमका सेवन करना; सत्पुरुषकी भक्तिमें लीन होना; सत्पुरुषोंके चरित्रोंका स्मरण करना; सत्पुरुषोंके लक्षणका चिंतन करना; सत्पुरुषोंकी मुखाकृतिका हृदयसे अवलोकन करना; उनके मन, वचन और कायाकी प्रत्येक चेष्टाके अद्भुत रहस्योंका वारंवार निदिध्यासन करना; और उनका मान्य किया हुआ सभी मान्य करना।

यह ज्ञानियों द्वारा हृदयमें स्थापित, निर्वाणके लिये मान्य रखने योग्य, श्रद्ध करने योग्य, वारंवार चिंतन करने योग्य, प्रति क्षण और प्रति समय उसमें लीन होने योग्य परम रहस्य है। और यही सर्व शास्त्रोंका, सर्व संतोंके हृदयका और ईश्वरके घरका मर्म पानेका महामार्ग है। और इन सबका कारण किसी विद्यमान सत्पुरुषकी प्राप्ति और उसके प्रति अविचल श्रद्धा है।

अधिक क्या लिखना? आज, चाहे तो कल, चाहे तो लाख वर्षमें और चाहे तो उसके बादमें या उससे पहले, यही सूझनेपर, यही प्राप्त होनेपर छुटकारा है। सर्व प्रदेशोंमें मुझे तो यही मान्य है।

श्रीमद् राजचंद्रके, इस एक पत्र (पत्रांक-१७२) का स्वाध्याय चलता है। इसमें वे लिखते हैं कि ज्ञानियों का सम्मत किया हुआ सर्व सम्मत करना। ज्ञानियों को क्या सम्मत है? आत्मस्वभावमें अभेददृष्टि ही सर्व ज्ञानियों को सम्मत है। इसके अलावा कोई राग से धर्म हो या शरीर की क्रिया आत्मा करे - यह बात किसी भी ज्ञानी को सम्मत नहीं है।

'अनंतकाल से स्वयंको स्वविषयक ही भ्रांति रह गयी है।' श्रीमद् के २३ वें वर्षका यह पत्र है। आत्मा

अनंतकालसे है, इस शरीरका सम्बन्ध नया होता है, पर आत्मा नया (उत्पन्न) नहीं होता है। आत्मा स्वयं कौन है? इसकी जीवको अनंतकालसे खबर नहीं है। मैं कौन हूँ? और मेरा स्वरूप कैसा है? इस विषयमें ही भ्रांति रह गई है। मेरा सुख मानों जैसे बाहरमें हो! ऐसा मानता है, यानी कि स्वयंके विषयमें ही भ्रांति है। देव-गुरु-शास्त्र के विषयमें भ्रांति रह गई है - ऐसा नहीं कहा। क्योंकि सच्चे देव-गुरु-शास्त्रको तो माना, परन्तु स्वयंके आत्माके विषयमें भ्रांति को कभी टाला नहीं। परके विषयमें भ्रांति रह गयी है, ऐसा नहीं कहा परन्तु स्वयं कौन(है) इस विषयमें भ्रांति रह गई है। आत्माको भूल कर पर से लाभ मान रहा है अर्थात् उपादानस्वभावमें भ्रांति रह गई है, पर निमित्तमें भूल रह गई है - ऐसा नहीं है। दूसरी तरहसे कहें तो, व्यवहारके सम्बन्धमें भूल तो टाली, पर आत्माका स्वभाव कैसा है वह जाना नहीं; अर्थात् निश्चय सम्बन्धी भूल कभी मिटाई नहीं। देव-गुरु-शास्त्रकी कृपा हो जाये तो मेरे आत्माका कल्याण हो जाये - ऐसा मानना ही स्वयंके स्वरूप (के विषय) में भ्रांति है। पुण्यको आत्माका स्वरूप माने, तो वह भी आत्माके विषयमें भ्रांति है। जीवने अनंतकालमें बाकी सब कुछ किया परन्तु आत्माका स्वभाव क्या है, इस विषयकी भ्रांतिको कभी टाला नहीं। अपने विषयमें भ्रांति रह गई है। स्वयं यानी कौन? विकारवाला स्वयंको माना, वह भी भ्रांति है। आत्मा क्षणिक विकार जितना नहीं, विकाररहित उसका स्वभाव है। इस स्वभावके (विषयमें) भ्रांति रह गई है। जीवने शुभभाव अनंतबार किया है, पर भ्रांतिरहित होकर शुद्धआत्माको कभी नहीं जाना।

'यह एक अवाच्य और अद्भुत विचारनेका विषय है।' वाणीसे नहीं कहा जा सके, ऐसा अद्भुत विचारनेका यह विषय है। यहाँ आत्मस्वभावके विचारकी अपूर्वता बतलाते हैं। ऐसा क्या बाकी रह गया कि अनंत अनंतकाल बीत गया फिर भी भ्रांति टली नहीं। अनंतकालमें त्याग, व्रत, वगैरह किया, परन्तु आत्मस्वभावकी विचारना करनी बाकी रह गई है। अपने विषयमें क्या भ्रांति रह गई? यह एक अद्भुत विचारनेका विषय है। बाकी सभी विचारोंमें बुद्धि लगायी है, परन्तु आत्माकी यथार्थ विचारना कभी नहीं की। पहले आत्मस्वभावकी बात करके बादमें इसके निमित्तकी भी बात करेंगे। अनंतकालकी भ्रांति कैसे टले - इसका उपाय बताएँगे।

'जहाँ मतिकी गति नहीं, वहाँ वचनकी गति कहाँसे हो?' यहाँ मति यानी पर तरफ झुकता हुआ ज्ञान। पर तरफके विकल्प द्वारा भी जिस आत्मा तक पहुँचा नहीं जाता, ऐसे आत्माको वाणीसे कैसे कहा जा सके? मति यानी पर तरफके ज्ञानका उघाड, अथवा पर तरफ झुकाव वाला ज्ञान - ऐसा यहाँ अर्थ समझना। सम्यक् मतिज्ञान द्वारा तो आत्मा जाननेमें आता है, लेकिन पर तरफ झुके हुए ज्ञानके उघाड द्वारा आत्मा जाननेमें नहीं आता।

ऐसे पहले तो उपादानस्वभावकी बात की, अब अनंतकालसे रही भ्रांति टालनेके लिए और अंतरस्वभावमें आने के लिए क्या करना सो कहते हैं।

'निरंतर उदासीनताके क्रमका सेवन करना;' - निरंतर कहा है। जैसे बादाममें से तेल निकालना हो तो उसे लगातार घिसना पड़े; थोड़ा घिसे फिर दूसरे कामोंमें अटक जाये, फिर थोड़ा घिसे, - ऐसे रुक-रुक कर घिसे तो तेल नहीं निकलता है। लेकिन कोई अंतराय बिना घिसे तो तेल निकले। वैसे यहाँ निरंतर उदासीनता के क्रमका सेवन करने को कहा है। पर तरफकी रुचि कुछ घटे तब तो अंतर विचारके तरफ लगे ना? यह बात नास्तिसे की है। परके प्रति वैराग्यदशा ला कर अंतरके विचारमें निरंतर रहना चाहिए। यहाँ निरंतर परके प्रति उदासीनताका सेवन करनेको कहा है। तो क्या खाना-पीना कुछ नहीं करना? ऐसा कोई पूछे तो कहते हैं कि जैसे कोई व्यापारका लालची सोता हो या खाता हो तो भी साथमें उसे व्यापारकी लालच तो पडी ही है। वैसे ही धर्मकी रुचिवालेको निद्रामें भी

परके प्रतिकी उदासीनताका भाव हटता नहीं; धर्मकी रुचिवाला उदासीनताके क्रममें अंतराय पड़ने देता नहीं। खाना-पीना या व्यापार वगैरहका राग भले वर्तता हो लेकिन अंतरकी रुचिमें उसके प्रति उदासीनता एक क्षण भी हटती नहीं।

अब भ्रांति टालनेके निमित्तकी पहचान कराते हैं कि, **'सत्पुरुषकी भक्ति प्रत्ये लीन होना।'** पहले सत्पुरुष कौन - इसे पहचानना चाहिए। पहचाननेकी जिम्मेदारी स्वयं की है। सत्पुरुष किसे कहना, यह जाननेका स्वयंका भाव है। दो पैसेका मिट्टीका तवा लेने जाता है तो भी टकोर मार कर जाँच करता है। तो अनंतकालकी भ्रांति टालकर आत्माका कल्याण करने के लिए सत्पुरुषकी परीक्षा करके पहचानना चाहिए । सत् यानी आत्मस्वभाव, इसकी जिसे पहचान हुई है वे सत्पुरुष हैं। संसारके प्रति निरंतर उदास होना और सत्पुरुषकी भक्तिमें लीन होना - ऐसे दो बातें की हैं।

और विशेष कहते हैं : **'सत्पुरुषोंके चरित्रका स्मरण करना;'** पहले जिसका ज्ञान किया हो उसका स्मरण कर सकते हैं। सत्पुरुषका चरित्र किसे कहना? इसके ज्ञान बिना उनका स्मरण किस प्रकारसे हो सके? सत्पुरुषका चरित्र कहाँ रहता होगा? कोई बाहरकी क्रियामें या शुभाशुभ रागमें सत्पुरुषोंका चरित्र नहीं है। बाहरमें कोई परिवर्तन न दिखे परन्तु धर्मीके अंतरकी दशामें रुचिकी दिशा स्वभावके तरफ झुक गई है। जैसे छोटेसे हीरे की कीमत लाखोंमें होती है, वह जौहरी ही जान सकता है। वैसे ही आत्माका चरित्र अन्तरदृष्टिसे ही पहचाना जा सकता है। धर्मी आत्माका चारित्र क्या? वह शरीरकी दशामें या वस्त्र में नहीं है। आहार-शुद्धि या वस्त्रके त्यागमें भी चरित्र नहीं- यह सब तो अज्ञानीको भी होता है। सत्पुरुषके अंतरमें क्या फरक पड़ा है वह जाने बिना उनके चरित्रका ज्ञान नहीं होता। सत्पुरुषके अंतरका चरित्र क्या? कोई गाँवमें रहते थे और जवाहरात (आभूषणों) का व्यापार करते थे, जिज्ञासुओं को पत्र लिखते थे या उपदेश देते थे वे तो - इसमें क्या सत्पुरुषका चरित्र है? वह सब बाह्य वस्तु है इसमें सत्पुरुषका चरित्र नहीं। परन्तु अंतरके स्वभावको जानकर वहाँ स्थिर हुए हैं और रागादि भावोंकी रुचि टल गई है, यही सत्पुरुषों का चरित्र है। उनको पहचाने तो उनका सच्चा स्मरण हो।

Amp HSbhVoh{H$ **'सत्पुरुषोंके लक्षणका चिंतन करना;'** ऐसी भाषा थी और ऐसा शरीर था - ऐसे शरीरके लक्षणसे सत्पुरुषकी पहचान नहीं होती। अंतरस्वभावकी श्रद्धा, ज्ञान और रमणता, वह सत्पुरुषका लक्षण है। बाहरमें त्याग होना या शुभराग होना ये सत्पुरुषके सच्चे लक्षण नहीं हैं। शरीर दिखता है वह देव-गुरु नहीं है, सो तो जड़ है, देव और गुरु तो आत्मा है और अंतरमें श्रद्धा-ज्ञान-चरित्र स्वरूप है वही उनका लक्षण है। इन लक्षण द्वारा सत्पुरुषको पहचाने तो स्वयं वैसा हो जाए।

लक्षण उसे कहते हैं कि, जिससे द्वारा लक्ष्यको पहचाना जाए। सत्पुरुषमें ऐसा क्या लक्षण है जो दूसरेमें न हो और उनमें ही हो? सत्पुरुषके अंतरके श्रद्धा ज्ञान ही उनके लक्षण हैं। रागादि होना वह उनका लक्षण नहीं- ऐसे लक्षण द्वारा सत्पुरुषको पहचान कर उनका चिंतवन करना।

इस प्रकार अंतरकी बात करके अब बाहरकी बात करते हैं : **'सत्पुरुषोंकी मुखाकृतिका हृदयसे अवलोकन करना। उनके मन,वचन और कायाकी प्रत्येक चेष्टाके अद्भुत रहस्योंका (वचनका-)वारंवार निदिध्यासन करना;'** शरीर-मन-वाणी की क्रिया तो जड है। परन्तु उसके पीछे अनाकुल स्वभावका श्रद्धा-ज्ञान है - (वह) उनका अद्भुत रहस्य है। मन-वचन-कायाकी जो प्रवृत्ति होती है, उसका कर्तापना ज्ञानीको उड़ गया है, उनको उसमें कभी सुखबुद्धि होती नहीं और भेदज्ञान कभी छूटता नहीं है - ऐसा ज्ञानीका अद्भुत रहस्य है जिसे बारम्बार विचारना योग्य है। सत्पुरुषके मुखाकृतिका हृदयसे अवलोकन और बारम्बार उनके समागमकी भावनामें स्वयंको सत् समझनेकी रुचि

है।

अब कहते हैं कि, उनका सम्मत किया हुआ सर्व सम्मत करना। ज्ञानियोंने क्या सम्मत किया है? आत्माके स्वाश्रय सिवाय तीन कालमें धर्म नहीं है, इसलिए स्वाश्रय भाव ही ज्ञानीको सम्मत है। देव-गुरु-शास्त्रका आश्रय करना ज्ञानीको सम्मत नहीं है। आत्माका राग रहित ज्ञाता स्वभाव है - उसकी रुचि, उसकी श्रद्धा, उसका ज्ञान और उसका आश्रय करना ही ज्ञानीको सम्मत है। इस प्रकारसे पहचान कर उनका सम्मत किया हुआ सर्व सम्मत करना। शुभ या अशुभ कोई भी पराश्रित भावसे आत्माका धर्म हो - ऐसी मान्यता ज्ञानियोंको सम्मत नहीं। आत्माको जिस भावसे नुकसान हो, ऐसा एक भी भाव ज्ञानीको सम्मत नहीं। ज्ञानीको आत्माका विकाररहित स्वभाव ही सम्मत है।

एक ज्ञानी एक मार्ग बताएँ और दूसरे ज्ञानी दूसरा मार्ग बताएँ - ऐसा कभी बनता नहीं। सभी सत्पुरुषोंका एक ही मार्ग है। आत्मस्वभावको पहचान कर उसका आश्रय करना - यही मुक्तिका पंथ है और यही मार्ग सभी ज्ञानियोंको सम्मत है। इस प्रकारसे पहचानकर ज्ञानियोंका सम्मत किया हुआ सर्व सम्मत करना। ज्ञानीके पास श्रवण करके स्वयंको जितना जँचे उतना माने और दूसरी बात न रुचे, तो उस जीवने ज्ञानियोंका कहा हुआ सर्व सम्मत नहीं किया; परन्तु स्वयंके स्वच्छंदका पोषण किया है। देव-गुरु-शास्त्रके आश्रयसे जो पुण्य भाव होता है उसका आश्रय करनेका भी धर्मीको मान्य नहीं, परन्तु उसका आश्रय छोड़ना मान्य है। ज्ञानियोंका मान्य किया सर्व मान्य करना; इसमें अगर कहीं भी अपनी कल्पनासे स्वच्छंद किया तो उसने ज्ञानीको पहचाना नहीं और उनका कहा हुआ माना नहीं। आज तक जीवने अपनी भ्रांतिसे ही ज्ञानीके विषयमें अपनी दृष्टिसे कल्पनाकी है। यदि ज्ञानीको ज्ञानीके रूपमें पहचाने तो उसे भेदज्ञान और मुक्ति हुए बिना रहे नहीं। ज्ञानीकी पहचान करनेमें परकी महत्ता नहीं परन्तु अपने आत्माकी ही महत्ता है। प्रथम तो अनंत कालसे आत्माकी भ्रांति रह गई है - ऐसा पहचाने और फिर उपर कहे अनुसार पात्र होकर सत्पुरुषको पहचाने तो अवश्य आत्माकी भ्रांति टल जाए।

ज्ञानी ऐसा नहीं कहते कि, तू मेरा आश्रय करके रुक जा। परन्तु तुम अपने आत्माकी सिद्ध जैसे परिपूर्ण स्वभावको पहचान कर उसका आश्रय कर - ऐसा ज्ञानीके हृदयका रहस्य है। सभी धर्मात्माओंने यही सम्मत किया हैं और यही सम्मत करने योग्य है - प्रसन्नतासे मान्य करने योग्य है।

'यह ज्ञानियों द्वारा हृदयमें स्थापित, निर्वाणके लिए मान्य रखने योग्य, श्रद्धा करने योग्य, वारंवार चिंतन करने योग्य, प्रति क्षण और प्रति समय उसमें लीन होने योग्य परम रहस्य है और यही सर्व शास्त्रों का, सर्व संतों के हृदयका और ईश्वर के घरका मर्म पाने का महामार्ग है।' देखो तो सही, कितनी दृढ़तापूर्वक बात की है। धर्मी जीवोंने जो मान्य किया, वह मान्य करना ही परम रहस्य है। धर्मी जीवोंने क्या मान्य किया? किसका आचरण किया? और क्या छोड़ा? इसे पहचाने बिना स्वयं उसकी श्रद्धा किस प्रकार करे? और चिंतवन भी किस प्रकार से करे?

ज्ञानियोंको सही प्रकारसे पहचान कर उन्होंने जिस प्रकारसे आत्माके वीतराग स्वभावको मान्य किया, उसका आश्रय करना; वह सर्व शास्त्रों और सर्व संतोंके हृदयके मर्मको पानेका यही एक मार्ग है। निर्वाणके हेतु यानी आत्माकी मुक्ति हेतु मान्य करने योग्य यही महामार्ग है। और ईश्वरके घरका यानी सर्वज्ञ भगवानके मार्गका अथवा आत्माके स्वभावका मर्म पानेका यही महामार्ग है। आत्माका परमात्म पद प्रगट हो वही महामार्ग है।

अब निमित्तकी बात करते हैं: **'और इन सबका कारण किसी विद्यमान सत्पुरुषकी प्राप्ति और उसके प्रति अविचल श्रद्धा है। अधिक क्या लिखना?'** तीनों कालमें यही एक मार्ग है, ऐसा ज़ोर देकर कहते हैं कि, **'आज, चाहे तो उसके बाद या उससे पहले,**

(अनुसंधान पृष्ठ संख्या १६ पर..)

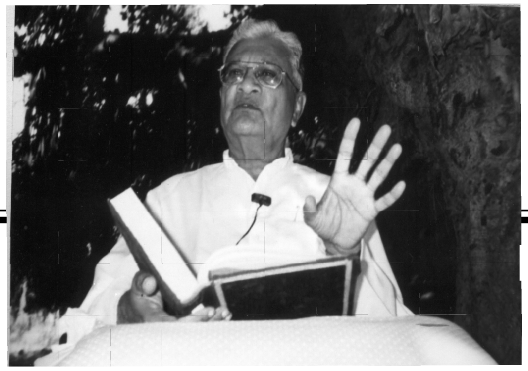

परम कृपालुदेवकी जन्मजयंति पर पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा गुण संकीर्तन

आज 'कृपालुदेव' की जन्म-जयन्तीका महोत्सव दिन है। यदि अपना परम सौभाग्य है कि ऐसे महापुरुष का जन्म-दिवस मनाने का सद्भाग्य अपने को प्राप्त होता है। वास्तविकरूप से तो उनका स्मरण करके, उनका गुणानुवाद, उनकी भक्ति, यह विशेष प्रकार से करने का आज दिवस है। उनके गुणों से उनका स्मरण करके उनके प्रति जो कुछ बहुमान हो, वह बहुमान वृद्धिगत हो - इस प्रकार आज का दिन व्यतीत होना चाहिए।

जब उनका स्मरण करते हैं, तब उनकी जो मुखमुद्रा है, उसका प्रथम ही निदिध्यासन होता है। भले ही वे अभी अपने समक्ष प्रत्यक्ष नहीं हैं, तथापि प्रत्यक्षवत् प्रतिभासित होते हैं। अपने चैतन्य प्रदेशों में उनकी मुद्रा अंकित होती है। visualise होती है - दिखती है।

अहो! उनकी मुद्रा! अहो! उनकी मुद्रा में प्रदर्शित होती है, गम्भीरता! उनका जो परम गाम्भीर्य है, वह उनकी मुद्रा में बहुत अच्छी तरह से प्रसिद्ध होता है, प्रदर्शित होता है। ऐसी एक असाधारण अपूर्वता उनमें दृष्टिगोचर होती है।

उनके वचनयोग के लिए तो दूसरों के वचन अपूर्ण और अल्प पड़ें - ऐसे हैं; उन्हें ऐसा कोई सातिशय वचनयोग प्राप्त था कि जिसका प्रमाण यह वचनामृत 'ग्रन्थ' अपने समक्ष है। इस वचनयोग से आज भी हजारों मनुष्य आकर्षित होते हैं। ऐसा कोई चमत्कार कहें, कोई ऐसा अतिशय कहें, कोई ऐसा लोकोत्तर जादू कहें - वह प्रकार उनके वचनयोग में प्रसिद्ध है। उनका दूसरे वचनों से प्रशंसा अथवा गुणानुवाद करना कम लगता है, अधूरा लगता है। जितना समझ में आता है, जितना अनुभव में आता है, उतना कहा नहीं जा सकता।

इस वचनयोग और इस वचनयोग द्वारा जो-जो मुमुक्षु आत्माएँ, उनके प्रत्यक्ष परिचय में आये, उनके प्रति उनकी जो परम करुणा, उनका उद्धार करने की जो निष्काम करुणा, वह करुणा भी उनके एक-एक पत्र में दृष्टिगोचर होती है। वह मात्र करुणा ही थी, इतना ही नहीं; अपितु वह एक लोकोत्तर विचक्षणता भी थी। जैसे, कोई कुशल वैद्य हो, एक्सपर्ट डॉक्टर हो और गम्भीर से गम्भीर रोगी को भी तन्दुरुस्ती के प्रति stage by stage, stage by stage ले जाए, इस प्रकार उनके परिचय में आये हुए मुमुक्षुओं को (कृपालुदेव) उनके आत्मा की उन्नतिक्रम में ले आते हैं।

यह प्रकार जो है - ऐसा प्रकार अनेक महात्माओं का इतिहास देखने पर भी, ऐसा लगता है कि इस प्रकार की विचक्षणता भाग्य से ही अनेक धर्मात्माओं में भी किन्हीं में होती है - ऐसे प्रकार की थी। अत्यन्त विचक्षणता! किसी भी मुमुक्षु से कितनी बात करना, कैसी बात करना, कितनी मात्रा में करना अथवा नहीं करना - ऐसी विचक्षणता, जिस-तिस मुमुक्षु की योग्यता को परखकर वे उसे जो ट्रीटमेन्ट/उपचार देते हैं, जो बोध देते हैं उसमें केवल सामनेवाले के आत्मकल्याण के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है।

इसके अतिरिक्त उनकी जो सरलता है, वह उनके पत्र में कोई असाधारणरूप से व्यक्त होती है। सरल परिणामी जीव कैसे होते है? और धर्मात्मा की सरलता कैसी होती है? इसके लिए यह ग्रन्थ है। यह एक असाधारण प्रमाण है, असाधारण साबिती है। अपने परिणाम की बात करना, यह असाधारण एवं अत्यन्त सरलता के बिना सम्भव नहीं है। प्रयोग करके देखने पर ख्याल में आवे ऐसा है कि आज भी हम सत्संग करते हैं तो उस सत्संग में अपने-अपने परिणामों की कितनी चर्चा करते है कि मुझे इतने दोष होते हैं, मुझे इस-इस प्रकार के परिणाम होते हैं - इसमें विपरीतता क्या है? इसमें हानि क्या है? इसमें कमियाँ क्या हैं? इन्हें किस प्रकार सुधारना चाहिए?

कृपालुदेव की, अपने परिणाम पत्र में लिखकर जो बोध देने की प्रणाली कहें, बोध देने की विधि कहें, रीति कहें, कार्य की पद्धति कहें - यह पद्धति अनुसरण करने योग्य है, अनुकरण करने योग्य है, जो कि प्राय: अनुसरण होती देखने में नहीं आती है। यह एक विशिष्ट प्रकार अंगीकार करने योग्य है और तभी हम उनके मार्ग में चले हैं। मात्र पढ़ लें, मात्र पढ़कर प्रशंसा कर लें, इतना ही नहीं होना चाहिए। वे किस प्रकार वर्तन करते हैं? अपने परिणाम की आध्यात्मिक परिस्थिति भी व्यक्त की है और ऐसा तो भाग्य से ही कोई व्यक्त करता है।

वास्तविक बात यह है कि जो कोई ज्ञानी पुरुष की ज्ञानदशा है, जो कुछ उनके आत्मगुणों का आविर्भाव हुआ होता है, वह तो उनकी सम्पत्ति है! वह उनकी कमाई है! वह उनकी पूँजी है! आज हम अपनी पूँजी किसी को बताते हैं? कि भाई! मेरे पास इतनी पूँजी है! कम हो तो भी कोई नहीं बताता और अधिक हो तो भी नहीं बताता। हाँ, बताते किन्हें हैं? अपने आत्मीयजन हों, अपने पिता हों, पुत्र हों, पत्नी हो उसे बताते हैं, अपने पास इतना है और अपने को तदनुसार चलाना चाहिए।

'कृपालुदेव' ने अपनी पूँजी/आत्मसम्पत्ति, पत्रों द्वारा व्यक्त की है, इससे लगता है कि उनकी अपने परिचय में आनेवाले सुपात्र जीवों के साथ किस हद तक आत्मीयता थी। भाग्य से ही कोई धर्मात्मा ऐसी बात करते हैं, जो बातें इन्होंने अनेक पत्रों में की है और उसमें भी मुख्यरूप से सौभागभाई, जो इनके परम निकट सखा/मित्र थे, उनके पत्रोंमें विशेषरूप से की है। यह एक सौभागभाई का भी उपकार है कि जिनके संयोग के कारण, जिनके योग के कारण कृपालुदेव की अभ्यन्तर दशा/आत्मदशा प्रसिद्ध हुई और इस प्रकार अपने को कृपालुदेव को उनके अन्तरंग से समझने का एक अवसर प्राप्त हुआ। यह उनकी असाधारण अत्यन्त - अत्यन्त सरलता का प्रमाण है।

उनकी नम्रता का विचार करें तो भाग्य से ही ऐसा उदाहरण देखने को मिलेगा। ऐसे वचन और कथन भाग्य से ही देखने को मिलेंगे - ऐसा प्रकार इस ग्रन्थ में प्रसिद्ध है।

इस विषय में उनका पत्रांक ५३९ विचारने योग्य है। इस प्रकार कृपालुदेव के गुणगान करे तो एक घण्टा तो कम पड़े - ऐसा है। अन्य पदार्थ में जीव यदि निजबुद्धि करे तो परिभ्रमण दशा प्राप्त करता है, और निज में निजबुद्धि हो तो परिभ्रमणदशा दूर होती है। संसार की चार गतियों को एक वचन में समाहित कर दिया है। वचन के अर्द्धभाग में समाहित की है और मोक्षगति - पंचमगति प्राप्त करने को शेष आधा वचन कह दिया है। यह वचनयोग का सामर्थ्य है। एक वचन में कारण-

कार्यसहित संसार - मोक्ष कहा है। **'जिसके चित्त में ऐसा मार्ग का विचार करना आवश्यक है...'** कि मेरा परिभ्रमण मिटना चाहिए और निज में निजबुद्धि करके परिभ्रमण से मुक्त होना चाहिए, उसे क्या करना? (कि) उसको, **'जिसके आत्मा में यह ज्ञान प्रकाशित हुआ है...'** वैसे ज्ञानी पुरुष की - वैसे सत्पुरुष की... **'दासानुदासरूप से अनन्य भक्ति करना ही परमश्रेय है।'** परम कल्याण है।

अब उनकी असाधारण नम्रता का प्रमाण है। इतने अनुसंधान के बाद लिखते हैं **'...उस दासानुदास भक्तिमान की भक्ति प्राप्त होने पर जिसमें कोई विषमता नहीं आती, उस ज्ञानी को धन्य है।'** क्या कहा? ज्ञानी पुरुष, कि जो ज्ञानी पुरुष की दासानुदासरूप से भक्ति करते हों, उनकी भी भक्ति करें और फिर भी विषमता अर्थात्... inferiority of complex उत्पन्न न हो! कि अरे! दासानुदास की भक्ति ज्ञानी किस प्रकार करे? ज्ञानी की भक्ति तो उनके दास और भक्त अवश्य करें - यह तो एक साधारण बात है, सामान्य बात है, सम्भावित बात है; परन्तु दासानुदास भक्तिमान की भक्ति प्राप्त होने पर जिसमें कोई विषमता नहीं आती, विकल्प उत्पन्न नहीं होता कि 'इसमें मेरे मान-अपमान का सवाल क्या है'- लोग मुझे किस प्रकार से देखेंगे? क्या समझेंगे? उस ज्ञानी को धन्य है। इस प्रकार, इस अभिप्राय से ज्ञानी ज्ञानदशा को प्राप्त हुए होते हैं उन्हें कभी भी, कहीं भी मान-अपमान की कल्पना नहीं होती है। 'उतनी सर्वांशदशा जब तक प्रगट न हुई हो, तब तक आत्मा की कोई गुरुरूप से आराधना करे, वहाँ पहले उस गुरुपने को छोड़कर उस शिष्य में अपनी दासानुदासता करना योग्य है।' देखो! नम्रता का प्रमाण! ऐसे वचन अन्यत्र कहीं देखने को नहीं मिलते।

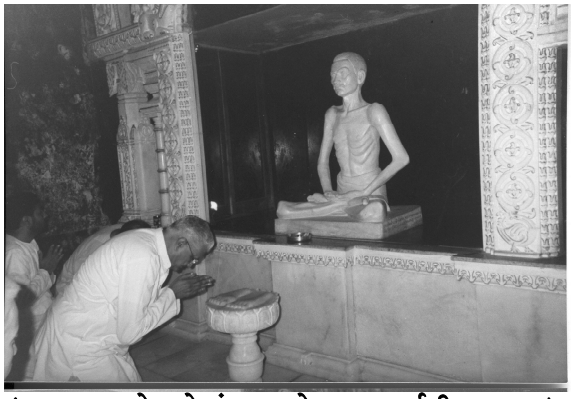

(परम कृपालुदेवको वंदन करते हुए पू.भाईश्री-सायला)

जब यह वचन सामने आते हैं, तब अहो! उनकी नम्रता! ऐसा आश्चर्यकारक भाव हुए बिना नहीं रहता। इसलिए उनकी गवेषणा; गवेषणा अर्थात् सत्य की खोज; उन्होंने किस प्रकार से सत्य की खोज की और परम सत्य को प्रसिद्ध किया, प्रगट किया!

A hrb CZH$h1 Õnz! dV©nz! पंचम काल एक ऐसा काल है कि जिसे शास्त्रकार 'हुण्डावसर्पिणीकाल' कहते हैं। जैसे, सर्प सीधा नहीं चलता; उसी प्रकार यह काल सीधा नहीं चलता, अर्थात् धर्मात्मा हों, कोई भी हो; उन्हें भी बाहर के संयोगों का उतार-चढ़ाव हुआ ही करता है। ऐसे अनेक प्रकार के पूर्वकर्म के चित्र-विचित्र उदय आने पर भी जिनका अविचल श्रद्धान ऐसा का ऐसा अविचल रहता है - ऐसे उनके अविचल श्रद्धान को यदि लक्ष्य में लिया जाए तो उनके प्रति हृदय नम्रीभूत हुए बिना नहीं रह सकता।

अहो! उनका निरावरण ज्ञान! ज्ञान तो ज्ञान है, परन्तु ज्ञान में दो प्रकार हैं - आवरणसहित का ज्ञान और निरावरणज्ञान। ज्ञानी पुरुष का ज्ञान भ्रान्तिरहित हुआ होने के कारण वह ज्ञान, निरावरणपने को प्राप्त हुआ है। जिसे केवल अपने परमात्मस्वरूप में आत्मबुद्धि वर्तती है और देहादि से तथा रागादि से भिन्नपना वर्तता है - ऐसा जो निरावरणज्ञान है, जो कि केवलज्ञान का साधक है, वह ज्ञान भी 'कृपालुदेव' में अतिशयरूप से प्रकाशमान हुआ था और वह उनके वचनयोग से भलीभाँति समझा जा सकता है।

अहो! उनकी समाधि! उपाधि में भी समाधि! पूर्वकर्म के योग से बाहर में अनेक प्रकार का उपाधियोग वर्तता था। पत्रों में जो विषय आया है, वह बहुत अल्पांश आया

है, परन्तु उससे कितना ही अनुमान करें तो स्पष्ट ख्याल में आता है कि अनेक प्रकार के उपाधियोग में से वे गुजरते थे, तो भी उनकी आत्मसमाधि ऐसी की ऐसी रहती थी। (एक पत्र में वे लिखते हैं कि)'हम जो कुछ करते हैं, वह कुछ लेने के लिए नहीं करते हैं। जगत् के जीव व्यवसाय करते हैं, वे कुछ लेने के लिए करते हैं, जब कि हम कुछ करते हैं, वह देने के लिए करते हैं।' अर्थात् जो पूर्वकर्म का कर्ज है, वह कर्ज चुकाते हैं। प्रामाणिकरूप से कर्ज चुकाते हैं। कर्ज किया हो और उसे न चुकाने की मंशा हो, उसमें प्रामाणिकता नहीं है। ऐसी एक लोकोत्तर प्रामाणिकता के दर्शन, उनके उदय प्रसंगो में, उन उदय प्रसंगो में उन्हें वर्तनेवाली आत्मसमाधि, उस समाधि से उनका जीवन - उनका परिणमन - इसका दर्शन अपने को होता है।

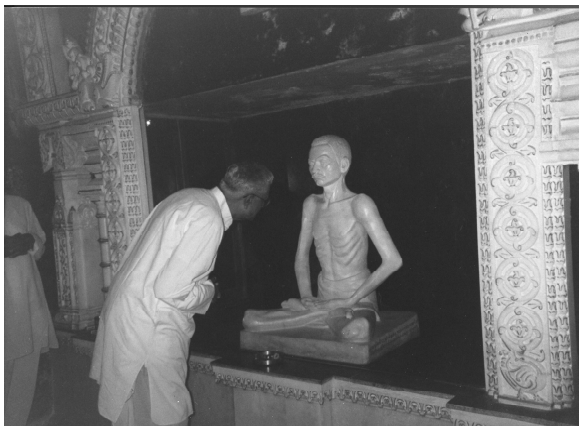

(परम कृपालुदेवको निहारते हुए पू. भाईश्री-सायला)

अहो! उनकी परम जागृति! (वे) आत्मस्वरूप में निरन्तर जागृत हैं - ऐसे जो ज्ञानी पुरुष हैं, उन्हें धन्य है। वे निरन्तर जागृत हैं। कोई यह कहे कि निरन्तर जागृत कैसे रहा जा सकता है? ऊँघ आ जाए - निद्रा आ जाए, उसमें किस प्रकार जागृत रहें? यह निद्रा आवे तो भी उनकी अन्तर परिणति में वर्तती जो ज्ञानधारा है, जो सर्व गुणांशरूप सम्यक्त्व है। ज्ञानधारा अर्थात् मात्र ज्ञान की परिणति, इतना ही नहीं। यहाँ ज्ञानधारा कहने से आत्मा के सर्व गुण यथासम्भव शुद्धि को प्राप्त हुए हैं - ऐसी जो, उनकी अलौकिकदशा होती है, वह दशा निरन्तर चालू रहती है। यह समझा जा सके - ऐसा विषय है, न समझा जा सके - ऐसा विषय नहीं है।

अपन सो जाते हैं, नींद आती है, परन्तु कोई अचानक आवाज दे तो क्यों होंकार दे देते हैं? नींद में कैसे पता पड़ा कि कोई अपने को बुलाता है? परन्तु अपना जो कोई देहात्मबुद्धिरूप परिणमन चलता है कि 'मैं अमुक-अमुक हूँ!' वह भ्रान्ति निवृत्त होकर 'मैं एकमात्र ज्ञानस्वभावी आत्मा हूँ,' चैतन्यस्वरूपी हूँ, आत्मा हूँ - जिसकी ऐसी अपूर्व आत्मरस से परिणति हुई है, वह परिणति निरन्तर चालू रहती है। जैसे, अज्ञानी को अज्ञानदशा की चालू रहती है, वैसे ही ज्ञानी को ज्ञानदशा चालू रहती है। ऐसी उनकी अन्तर की जागृति से भी उनके दर्शन करना योग्य है।

अहो! उनका वैराग्य! वैराग्य तो झरता वैराग्य था। जैसे, कोई कपड़ा पानी में डालकर बाहर निकाला जाए तो अधिक पानी नितरने/झरने लगता है। एक पत्र में वे स्वयं लिखते हैं कि 'हमारे अंग में इतना वैराग्य है कि हमारे संग में आये हुए को त्याग करना, संयम पालना, वैराग्य आना - यह तो सहज हो जाता है' और इसीलिए अपन उन्हें बोधस्वरूप से देखते हैं। आज अपन उन्हें एक मनुष्यरूप में नहीं देखते। भले ही सामान्यजनों के लिए वे एक १२७ वर्ष पहले 'ववाणिया' में मनुष्यरूप में जन्म पाये हों, परन्तु जो उन्हें पहिचानते हैं, वे तो उन्हें 'बोधस्वरूप' देखते हैं। बोधस्वरूप अर्थात् जिनके सत्संग में आनेवाले को स्वयं सहज उनकी परिणति देखकर बोध की प्राप्ति होती है, कहना नहीं पड़ता। इनके संग में मौनपने रहे, बोले तब की बात तो अलग ही है; परन्तु न बोलते हों, मौन रहते हों, तब भी उनके संग में रहनेवाले को स्वयं बोध की प्राप्ति होती है - ऐसा उनका अंग था, ऐसा उनका अन्तरंग था, ऐसा उनका बहिरंग था। वे अन्तर-बाह्य वैराग्य की मूर्ति थे - ऐसा कहना

चाहिए।

उनकी वीतरागता! यह वैराग्य, मात्र शुभभावरूप नहीं था - यह दर्शाना आवश्यक है। वैराग्य दो प्रकार का होता है। कितने ही संयम और त्याग के शुभभाव उत्पन्न होते हैं, उसे भी वैराग्य कहते हैं। मुमुक्षु की भूमिका में आत्मकल्याण की तीव्र भावना से उदय के नीरस परिणाम होते हैं, उसे भी वैराग्य कहते हैं; परन्तु यह वैराग्य मुमुक्षुदशा का नहीं, ज्ञानदशा का है। मुमुक्षुदशा का वैराग्य अलग होता है, ज्ञानदशा का वैराग्य अलग होता है और मुनिदशा का वैराग्य भी अलग होता है। इन अलग-अलग दशाओं के स्तर से वैराग्य की भूमिका भी अलग-अलग होती है।

इनका जो वैराग्य था, वह वीतरागतासहित था। इनकी जो आत्मस्वरूप से और सहज स्वभाव से उत्पन्न हुई जो वीतरागता, उस वीतरागता के साथ इनके अन्तर-बाह्य वैराग्य का सुमेल था; इसलिए जैसे कोई सुवर्ण को गेरु चढ़ाई जाए, गहनों को अनेक प्रकार के केमिकल्स से, रसायनों से विशेष पॉलिश की जाए और वे चमक उठते हैं, उनका तेज प्रगट होता है; उसी प्रकार वीतरागता से उत्पन्न हुआ वैराग्य विशेषरूप से प्रकाशित होता है। यह उनका दिव्य वैराग्यपना और तेजस्वीपना उसमें प्रसिद्ध होता है।

अहो! उनकी शान्ति! उतने सब गुण हों, तब आत्मशान्ति, यह तो जो परिणमन की प्रयोजन है, वह इसमें मुख्य होता ही है। वे किन्हीं भी प्रसंगों में अपने धैर्य को नहीं गँवाते हैं। उनकी धीरज भी आश्चर्यकारक होती है। यह धैर्य और शान्ति से उनका जो परिणमन है, वह भी हृदय से अवलोकन करने योग्य है और दर्शन करने योग्य है।

'भक्ति' का निरुपण तो 'कृपालुदेव' ने इतना सुन्दर और इतना सरस किया है कि आत्मस्वरूप की, आत्मपरिणामों की, आत्मस्वभाव की परखपूर्वक यदि मुमुक्षु को भक्ति प्रगट हो तो वह क्षणभर में मोक्ष दे - ऐसा पदार्थ है। इतना भक्ति का निरूपण किया है। कोई यह समझता है कि यह तो 'भक्ति' नाम का एक राग है। जैसे, दूसरे राग होते हैं, ऐसा यह भी एक विकल्प है - परन्तु कृपालुदेव को भक्ति शब्द में इतनी हल्की बात नहीं करना है। 'भक्ति' शब्द द्वारा उनका जो कुछ निरूपण करने का अभिप्राय और भाव रहा हुआ है, वह बहुत गहरा और गम्भीर है। उन्होंने भक्ति के द्वारा ज्ञान की दशा को व्यक्त किया है।

भक्ति, वह राग की पर्याय नहीं, परन्तु वस्तुतः तो ज्ञान की पर्याय है। जिस ज्ञान में - जिस समझ में मूल्यांकन होता है, जिसमें भाव-भासन आता है और उस कारण जो बहुमान प्रगट होता है - ऐसे जो बहुमान युक्त ज्ञान के परिणाम हैं, उन्हें वे भक्ति कहना चाहते हैं और उनका उस भक्ति का निरूपण असाधारण तथा अलौकिक है। भाग्य से ही ऐसा निरूपण अन्य ग्रन्थों में देखने में आयेगा। उन्होंने ऐसा निरूपण स्थान-स्थान पर किया है।

इस प्रकार 'कृपालुदेव' जैसे महापुरुष १२७ वर्ष पूर्व 'वणाणियाँ' में पधारे... तैंतीस वर्ष साढ़े पाँच माह की अल्प आयुष्य लेकर आये तो भी इतने से काल में जो कुछ पत्र संचित रह गये तो भी इतना बड़ा ग्रन्थ हुआ है, तो यदि सभी पत्र और इनका समस्त लेखन रह गया होता तो...! इनके कम समय में भी इनका चिन्तवन, इनका परिणमन कितना विशाल, ...कितना गहरा था। यह विशेष ख्याल में आता है। यह तो नमूना है।

इसलिए जिस क्षेत्र में उन्होंने विचरण किया है, वह क्षेत्र भी धन्य है! जिस गाँव में उनका जन्म हुआ है, वह गाँव भी धन्य है! 'वावाणियाँ'! ववाणियाँ में जन्म हुआ है। आप भी (वह) एक तीर्थस्थल है। वस्तुतः तो ज्ञानी पुरुष जहाँ-जहाँ विचरण करते हैं। वह तीर्थ है...! और जहाँ-जहाँ उनका स्पर्श होता है, वह आसन, वह शय्या सब धन्य है... इतना उनके विषय में संक्षेप में (गुणानुवाद) है।

*

श्रीमद् राजचंद्र ग्रंथमें से सत्पुरुषका माहात्म्य दर्शाते हुए कुछएक वचनामृत

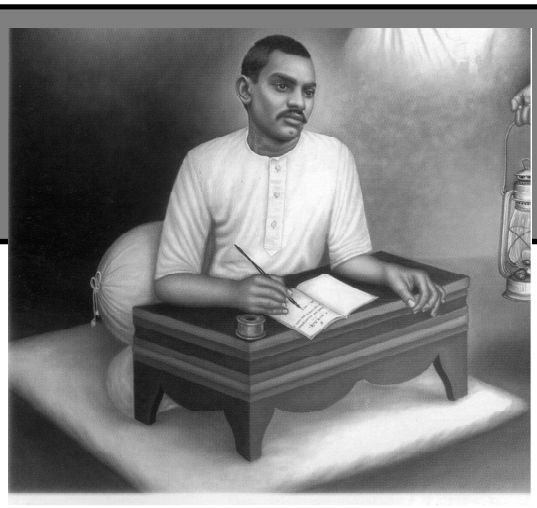

सत्संग सर्व सुख का मूल है।

सत्संगका सामान्य अर्थ यह कि उत्तमका सहवास।

जहाँ सत्संग नहीं वहाँ आत्मरोग बढ़ता है।

सत्संग आत्माका परम हितैषी औषध है।

(शिक्षापाठ : २४, १७वाँ वर्ष)

*

सत्पुरुष कहते नहीं, करते नहीं, फिर भी उनकी सत्पुरुषता निर्विकार मुखमुद्रा में निहित है।

(वचनामृत : १२२, २०वाँ वर्ष)

*

सत्संगका लेश अंश भी न मिलने से बिचारा यह आत्मा विवेक-विकलता का वेदन करता है।

(पत्रांक : ३५, २१वाँ वर्ष)

*

शास्त्रमें मार्ग कहा है, मर्म नहीं कहा। मर्म तो सत्पुरुषके अंतरात्मामें रहा है।

(पत्रांक : ५८, २२वाँ वर्ष)

*

परमात्माका ध्यान करनेसे परमात्मा हुआ जाता है। परंतु आत्मा उस ध्यानको सत्पुरुषके चरणकमलकी विनयोपासनाके बिना प्राप्त नहीं कर सकता, यह निर्ग्रंथ भगवानका सर्वोत्कृष्ट वचनामृत है।

निश्चय से निश्चय-अर्थ की अपूर्व योजना तो सत्पुरुषके अंतर में निहित है।

(पत्रांक : ६२, २२वाँ वर्ष)

*

दूसरा कुछ मत खोज, मात्र एक सत्पुरुषको खोजकर उसके चरणकमल में सर्वभाव अर्पण करके प्रवृत्ति किये जा। फिर यदि मोक्ष न मिले तो मुझसे लेना।

सत्पुरुष वही है कि जो रात दिन आत्माके उपयोग में है, जिसका कथन शास्त्रमें नहीं मिलता, सुननेमें नहीं आता, फिर भी अनुभवमें आ सकता है; अंतरंग स्पृहारहित जिसका गुप्त आचरण है।

एक सत्पुरुषको प्रसन्न करने में, उसकी सर्व इच्छाओं की प्रशंसा करने में, उसे ही सत्य मानने में पूरी जिंदगी बीत गई तो अधिक से अधिक पंद्रह भव में तू अवश्य मोक्षमें जायेगा।

(पत्रांक : ७६, २२वाँ वर्ष)

*

सत्संगके बिना ध्यान तरंगरूप हो जाता है।

संतके बिना अंतकी बातका अंत नहीं पाया जाता।

(पत्रांक : १२८, २३वाँ वर्ष)

*

किसी एक सत्पुरुषको खोजे, और उसके चाहे जैसे वचनोंमें भी श्रद्धा रखे।

(पत्रांक : १४३, २३वाँ वर्ष)

*

सत्संगके अभावसे चढ़ी हुई आत्मश्रेणी प्रायः पतित होती है।

(दैनंदिनी : १२, २३वाँ वर्ष)

सत्पुरुषके एक-एक वाक्य में, एक-एक शब्द में अनंत आगम निहित हैं, यह बात कैसे होगी ?

(पत्रांक : १६६, २४वाँ वर्ष)

*

निरंतर उदासीनताके क्रमका सेवन करना; सत्पुरुषकी भक्ति में लीन होना; सत्पुरुषोंके चरित्रोंका स्मरण करना; सत्पुरुषोंके लक्षणका चिंतन करना; सत्पुरुषोंकी मुखाकृतिका हृदयसे अवलोकन करना; उनके मन, वचन और काया की प्रत्येक चेष्टा के अद्भुत रहस्योंका वारंवार निदिध्यासन करना; और उनका मान्य किया हुआ सभी मान्य करना।

यह ज्ञानियों द्वारा हृदय में स्थापित, निर्वाण के लिए मान्य रखने योग्य, श्रद्धा करने योग्य, वारंवार चिंतन करने योग्य, प्रति क्षण और प्रति समय उसमें लीन होने योग्य परम रहस्य है। और यही सर्व शास्त्रोंका, सर्व संतोंके हृदय का और ईश्वरके घरका मर्म पाने का महामार्ग है। और इन सबका कारण किसी विद्यमान सत्पुरुषकी प्राप्ति और उसके प्रति अविचल श्रद्धा है।

अधिक क्या लिखना ? आज, चाहे तो कल, चाहे तो लाख वर्ष में और चाहे तो उसके बाद में या उससे पहले, यही सूझनेपर, यही प्राप्त होनेपर छुटकारा है। सर्व प्रदेशों में मुझे तो यही मान्य है।

(पत्रांक : १७२, २४वाँ वर्ष)

*

मार्ग सरल है, परंतु प्राप्ति का योग मिलना दुर्लभ है।

जो निरंतर भाव अप्रतिबद्धता से विचरते हैं ऐसे ज्ञानीपुरुषके चरणारविंदके प्रति अचल प्रेम हुए बिना और सम्यक्प्रतीति आये बिना सत्स्वरूपकी प्राप्ति नहीं होती, और आने पर अवश्य वह मुमुक्षु, जिसके चरणारविंदकी उसने सेवा की है, उसकी दशा को पाता है। सर्व ज्ञानियोंने इस मार्गका सेवन किया है, सेवन करते हैं और सेवन करेंगे। ज्ञानप्राप्ति इससे हमें हुई थी, वर्तमानमें इसी मार्ग से होती है और अनागतकाल में भी ज्ञानप्राप्तिका यही मार्ग है। सर्व शास्त्रोंका बोध-लक्ष्य देखा जाये तो यही है। और जो कोई भी प्राणी छूटना चाहता है उसे अखण्ड वृत्ति से इसी मार्गका आराधन करना चाहिए। इस मार्गका आराधन किये बिना जीवने अनादि कालसे परिभ्रमण किया है। जब तक जीवको स्वच्छंदरूपी अंधत्व है, तब तक इस मार्गका दर्शन नहीं होता। (अंधत्व दूर होने के लिये) जीवको इस मार्गका विचार करना चाहिये, दृढ़ मोक्षेच्छा करनी चाहिये, इस विचारमें अप्रमत्त रहना चाहिये, तो मार्गकी प्राप्ति होकर अंधत्व दूर होता है, यह निःशंक मानें। अनादिकालसे जीव उलटे मार्ग पर चला है। यद्यपि उसने जप, तप, शास्त्राध्ययन इत्यादि अनंत बार किया है; तथापि जो कुछ भी अवश्य करने योग्य था, वह उसने किया नहीं है; जो हमने पहले ही बताया है।

(पत्रांक : १९४, २४वाँ वर्ष)

*

दूसरी सभी प्रवृत्तियोंकी अपेक्षा जीवको योग्यता प्राप्त हो ऐसा विचार करना योग्य है; और उसका मुख्य साधन सर्व प्रकारके कामभोग से वैराग्य सहित सत्संग है।

जीव अपनी कल्पनासे किसी भी प्रकार से सत् को प्राप्त नहीं कर सकता। सजीवनमूर्तिके प्राप्त होने पर ही सत् प्राप्त होता है, सत् समझ में आता है, सत् का मार्ग मिलता है और सत् पर ध्यान आता है। सजीवनमूर्तिके लक्ष के बिना जो कुछ भी किया जाता है, वह सब जीवके लिये बंधन है। यह मेरा हार्दिक अभिमत है।

(पत्रांक : १९८, २४वाँ वर्ष)

*

ज्ञानकी प्राप्ति ज्ञानीके पास से होनी चाहिये। यह स्वाभाविकरूप से समझ में आता है, फिर भी जीव लोकलज्जा आदि कारणों से अज्ञानी का आश्रय नहीं छोड़ता, यही अनंतानुबंधी कषाय का मूल है।

जब तक प्रत्यक्ष ज्ञानीकी इच्छानुसार, अर्थात् आज्ञानुसार न चला जाये, तब तक अज्ञानकी निवृत्ति होना संभव नहीं है।

अनंत काल तक जीव स्वच्छंदसे चलकर परिश्रम करे तो भी अपने आप ज्ञान प्राप्त नहीं करता; परंतु ज्ञानीकी

आज्ञाका आराधक अंतर्मुहूर्त में भी केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है।

शास्त्र में कही हुई आज्ञाएँ परोक्ष हैं और वे जीवको अधिकारी होने के लिए कही हैं; मोक्षप्राप्ति के लिये ज्ञानीकी प्रत्यक्ष आज्ञाका आराधन करना चाहिये।

इस गुप्त तत्त्वका जो आराधन करता है, वह प्रत्यक्ष अमृतको पाकर अभय होता है।

(पत्रांक : २००, २४वाँ वर्ष)

*

'सत्' सत् ही है, सरल है, सुगम है, सर्वत्र उसकी प्राप्ति होती है; परंतु 'सत्' को बतानेवाला 'सत्' चाहिये।

(पत्रांक : २०७, २४वाँ वर्ष)

*

जिसके वचनबलसे जीव निर्वाणमार्गको पाता है, ऐसी सजीवनमूर्तिका योग पूर्वकालमें जीवको बहुत बार हो गया है; परंतु उसकी पहचान नहीं हुई है। जीवने पहचान करनेका प्रयत्न क्वचित् किया भी होगा, तथापि जीवमें जड़ जमाई हुई सिद्धियोगादि, ऋद्धियोगादि और दूसरी वैसी कामनाओंसे जीवकी अपनी दृष्टि मलिन थी। यदि दृष्टि मलिन हो तो वैसी सत्मूर्तिके प्रति भी बाह्य लक्ष्य रहता है, जिससे पहचान नहीं हो पाती; और जब पहचान होती है, तब जीवको कोई ऐसा अपूर्व स्नेह आता है।

(पत्रांक : २१२, २४वाँ वर्ष)

*

यह लोक त्रिविध तापसे आकुलव्याकुल है। मृगतृष्णाके जलको लेने के लिये दौड़कर प्यास बुझाना चाहता है ऐसा दीन है। अज्ञानके कारण स्वरूपका विस्मरण हो जाने से उसे भयंकर परिभ्रमण प्राप्त हुआ है। वह समय समय पर अतुल खेद, ज्वरादि रोग, मरणादि भय और वियोग आदि दुःखोंका अनुभव करता है, ऐसे अशरण जगतके लिये एक सत्पुरुष ही शरण है। सत्पुरुषकी वाणी के बिना इस ताप और तृषाको दूसरा कोई मिटा नहीं सकता, ऐसा निश्चय है। इसलिये वारंवार उस सत्पुरुषके चरणों का हम ध्यान करते हैं।

एक अंश सातासे लेकर पूर्णकामता तक की सर्व समाधिका कारण सत्पुरुष ही है। इतनी अधिक समर्थता होने पर भी जिसे कुछ भी स्पृहा नहीं है, उन्मत्तता नहीं है, अहंता नहीं है, गर्व नहीं है, गौरव नहीं है, ऐसे आश्चर्यकी प्रतिमारूप सत्पुरुषको हम पुनः पुनः नामरूपसे स्मरण करते हैं।

हे पुरुषपुराण ! हम तेरे में और सत्पुरुषमें कोई भेद ही नहीं समझते; तेरी अपेक्षा हमें तो सत्पुरुष ही विशेष लगता है, कारण कि तू भी उसके अधीन ही रहा है और हम सत्पुरुषको पहचाने बिना तुझे पहचान नहीं सके, यही तेरी दुर्घटता हम में सत्पुरुषके प्रति प्रेम उत्पन्न करती है। क्योंकि तू वश में होने पर भी वे उन्मत्त नहीं है।

(पत्रांक : २१३, २४वाँ वर्ष)

*

ज्ञानीपुरुष और परमात्मामें अंतर ही नहीं है, और जो कोई अंतर मानता है, उसे मार्गकी प्राप्ति परम विकट है। ज्ञानी तो परमात्मा ही है, और उसकी पहचानके बिना परमात्माकी प्राप्ति नहीं हुई है, इसलिये सर्वथा भक्ति करने योग्य ऐसी देहधारी दिव्य मूर्ति-ज्ञानीरूप परमात्माकी - का नमस्कार आदि भक्तिसे लेकर पराभक्तिके अंत तक एक लयसे आराधन करना, ऐसा शास्त्रका आशय है। परमात्मा इस देहधारीरूप से उत्पन्न हुआ है ऐसी ही ज्ञानीपुरुषके प्रति जीवको बुद्धि होने पर भक्ति उदित होती है।

(पत्रांक : २२३, २४वाँ वर्ष)

*

सत्पुरुषमें ही परमेश्वरबुद्धि, इसे ज्ञानियोंने परम धर्म कहा है, और यह बुद्धि परम दीनताको सूचित करती है, जिससे सर्व प्राणियों के प्रति अपना दासत्व माना जाता है और परम योग्यता की प्राप्ति होती है। यह 'परम दीनता' जब तक आवरित रही है तब तक जीवकी योग्यता प्रतिबंधयुक्त होती है।

(पाठांतर-तथारूप पहचान होने पर सद्गुरु में

परमेश्वरबुद्धि रखकर उनकी आज्ञा से प्रवृत्ति करना इसे 'परम विनय' कहा है। इससे परम योग्यता की प्राप्ति होती है। यह परम विनय जब तक नहीं आती तब तक जीव में योग्यता नहीं आती।)

(पत्रांक : २५४, २४वाँ वर्ष)

*

बिना नयन पावे नहीं, बिना नयन की बात।
सेवे सद्गुरु के चरन, सो पावे साक्षात्।।१।।
पायाकी ए बात है, निज छंदन को छोड़।
पिछे लाग सत्पुरुष के, तो सब बंधन तोड़।।६।।

(पत्रांक : २५८, २४वाँ वर्ष)

*

चमत्कार बताकर योगको सिद्ध करना, यह योगीका लक्षण नहीं है। सर्वोत्तम योगी तो वह है कि जो सर्व प्रकारकी स्पृहासे रहित होकर सत्यमें केवल अनन्य निष्ठासे सर्वथा 'सत्' का ही आचरण करता है, और जिसे जगत विस्मृत हो गया है।

(पत्रांक : २६०, २४वाँ वर्ष)

अनंत काळथी आथडयो, विना भान भगवान।
सेव्या नहि गुरु संतने, मूक्युं नहि अभिमान।।१५।।
संत चरण आश्रय विना, साधन कर्यां अनेक।
पार न तेथी पामियो, ऊग्यो न अंश विवेक।।१६।।

(पत्रांक : २६४, २४वाँ वर्ष)

*

अब क्यौं न बिचारत है मनसें, कछु और रहा उन साधनसें?।

बिन सद्गुरु कोय न भेद लहे, मुख आगल हैं कह बात कहे ? ।।४।।

(पत्रांक : २६५, २४वाँ वर्ष)

*

अनंतकालसे स्वरूप का विस्मरण होने से जीवको अन्यभाव साधारण हो गया है। दीर्घकाल तक सत्संगमें रहकर बोधभूमिकाका सेवन होने से वह विस्मरण और अन्यभाव की साधारणता दूर होती हैं, अर्थात् अन्यभावसे उदासीनता प्राप्त होती हैं।

(पत्रांक : ३१९, २५वाँ वर्ष)

*

सम्यक्प्रकार से ज्ञानी में अखण्ड विश्वास रखनेका फल निश्चय ही मुक्ति है।

(पत्रांक : ३२२, २५वाँ वर्ष)

*

एक बड़ी निश्चयकी बात तो मुमुक्षु जीवको यही करना योग्य है कि सत्संग जैसा कल्याणका कोई दूसरा बलवान कारण नहीं है, और उस सत्संगमें निरंतर प्रतिसमय निवास चाहना, असत्संगका प्रतिक्षण विपरिणाम विचारना, यह श्रेयरूप है। बहुत बहुत करके यह बात अनुभव में लाने जैसी है।

(पत्रांक : ३७५, २५वाँ वर्ष)

*

ज्ञानीपुरुषकी अवज्ञा बोलना तथा उस प्रकार के प्रसंगमें उमंगी होना, यह जीवके अनंत संसार बढ़नेका कारण है, ऐसा तीर्थंकर कहते हैं। उस पुरुषके गुणगान करना, उस प्रसंगमें उमंगी होना और उसकी आज्ञामें सरल परिणाम से परम उपयोग-दृष्टि से वर्तन करना, इसे तीर्थंकर अनंत संसारका नाश करनेवाला कहते हैं।

(पत्रांक : ३९७, २५वाँ वर्ष)

*

ज्ञानीपुरुषका वैसा वैसा संग जीवको अनंतकाल में बहुत बार हो चुका है तथापि यह पुरुष ज्ञानी है, इसलिए अब उसका आश्रय ग्रहण करना, यही कर्तव्य है, ऐसा जीव को लगा नहीं है; और इसी कारण जीवका परिभ्रमण हुआ है ऐसा हमें तो दृढ़तासे लगता है।

(पत्रांक : ४१६, २५वाँ वर्ष)

*

('दूसरा कुछ न खोज'से साभार उद्धृत)

(पृष्ठ संख्या ६से आगे...)

यही सूझनेपर, यही प्राप्त होने पर छुटकारा है।' भाई, तुम्हें तुम्हारे स्वरूपकी ही भ्रांति है, वह भ्रांति टाले बिना छुटकारा नहीं है। और उस भ्रांतिको छेदनेके लिए ज्ञानियोंने जो सम्मत किया उसे ही सम्मत करना, यही मार्ग है। यह मार्ग सूझने पर ही सर्व संतोंके हृदयको समझा जा सकता है और अंतमें, विद्यमान सत्पुरुषकी प्राप्ति होनेका कहा है। पूर्वमें हो गए सत्पुरुष नहीं परन्तु स्वयंको साक्षात् विद्यमान सत्पुरुषकी प्राप्ति हो और उनके वचनोंका सीधा श्रवण कर उनके प्रति अविचल श्रद्धा जगे। इसमें समझे बिना सत्पुरुषको माननेकी बात नहीं है, परन्तु सत्पुरुषको पहचानकर, वे कहते हैं कि ऐसे निरालम्बी स्वयंके आत्मस्वभावकी पहचान करे तो संतोंका माना हुआ मान्य किया कहलाए और वही निर्वाणका मार्ग है।

आखिरमें स्वयं अपनेको शामिल करके कहते हैं कि, **'सर्व प्रदेशोंमें मुझे तो यही मान्य है।**' आत्मा के असंख्य प्रदेशोंमें मुझे तो यही मान्य है।

(आत्मधर्म - ८० में से साभार उद्धृत)

करुणासागर 'पूज्य भाईश्री शशीभाई' के ९१वीं जन्म-जयंती महोत्सव पर धार्मिक कार्यक्रम

मुमुक्षुजीवों के परम तारणहार पूज्य भाईश्री शशीभाई का आगामी ९१वीं जन्म जयंती महोत्सव मार्गशीर्ष सुदी-४, दि. १६-१२-२०२३ से मार्गशीर्ष सुदी-८, दि. २०-१२-२०२३ पर्यंत अत्यंत आनंदोल्लासपूर्वक मनाया जायेगा। इस प्रसंग पर मंडल विधान पूजन, पूज्य भाईश्री के ऑडियो एवं विडीयो सी.डी. प्रवचन, पूज्य गुरुदेवश्री के विडीयो सी.डी. प्रवचन, पूज्य बहिनश्री चंपाबहिन की तत्त्वचर्चा, भक्ति, सत्संग, सांस्कृतिक कार्यक्रम रहेंगे और दि. १९-१२-२०२३ के दिन जिनेन्द्र रथयात्रा का कार्यक्रम रहेगा। इस प्रसंग पर आनेवाले मुमुक्षु निम्नलिखित पते पर पहुँचने की तारीख लिखें, जिससे उनकी आवास एवं भोजन की समुचित व्यवस्था हो सके।

संपर्क: श्री राजेन्द्र जैन, मो. ९८२५१५५०६६

कार्यक्रम स्थल :- श्री शशीप्रभु साधना-स्मृति मंदिर, प्लोट नं. १९४२-बी, शशीप्रभु चौक, रूपाणी सर्कल के पास, भावनगर-३६४००१

आभार

'स्वानुभूतिप्रकाश' (नवम्बर-२०२३, हिन्दी एवं गुजराती) के इस अंक की समर्पण राशि श्रीमती नलिनीबहिन धर्मेन्द्रभाई वोरा, भावनगर की ओर से ट्रस्ट को साभार प्राप्त हुई है। अतएव यह पाठकों को आत्मकल्याण हेतु भेजा जा रहा है।

पूज्य बहिनश्री की तत्त्वचर्चा
'स्वानुभूतिदर्शन'

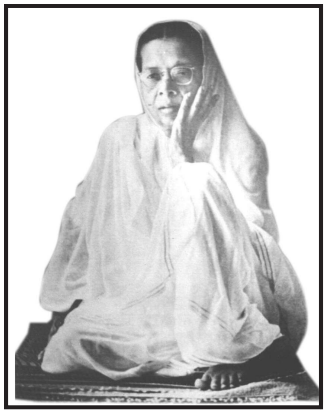

प्रश्न :- श्रीमद् राजचंद्रजीने कहा है कि 'जिसे ज्ञानीके प्रति परमात्मबुद्धि आती है उसे सर्व मुमुक्षुओंके प्रति दासत्वभाव आता है।' तो वहाँ वे क्या कहना चाहते हैं?

समाधान :- सत्पुरुष जो कि सर्वोत्कृष्ट मार्ग बतला रहे हैं और साधना कर रहे हैं उनके प्रति मुमुक्षुको परमेश्वरबुद्धि आती है। अर्थात् 'वे ही मुझे सर्वस्व हैं' ऐसा वह मानता है जिससे उसे अन्य मुमुक्षु जीवोंके प्रति दासत्वपना अर्थात् गुणग्राहीदृष्टि हो जाती है। वह किसीके दोष नहीं देखता, किंतु उसे सबका दासत्व है अर्थात् 'मैं किसीसे उँचा हूँ' ऐसी द्रष्टि नहीं है, परंतु नम्रताका भाव आ जाता हैं।

आत्मार्थिताका लक्षण है कि मैं किसीसे ऊँचा हूँ, ऐसा विचार छूट जाय और सबका दासत्व आ जाय। उसे इतनी अधिक नम्रता आ जाती है कि अपना अहंपना और कठोरता छूट जाती है। किंतु उसे परीक्षा बुद्धि होती है। जहाँ सच्चे देव-शास्त्र-गुरु हों वहीं उसकी अर्पणता होती है; परंतु जो सत्य नहीं समझते हों, जिनकी विपरीत बुद्धि तथा मिथ्या आग्रह हों उनके प्रति दासत्व नहीं होता; तथापि स्वयंको कहीं अभिमान नहीं होता और न कहीं अभिमानपूर्वक वर्तता है, ऐसा दासत्व होता है। वह ऐसा मान नहीं रखता कि मुझमें कितनी विशेषता है अर्थात् मैं बड़ा हूँ, ऐसा उसका मान छूट जाता है; जिससे अपनेको हानि हो वैसा अहंपना छूट जाता है। कोई मिथ्या आग्रही हों अथवा कुदेव-कुगुरु हों उन सबको यथावत् जानता है, परंतु स्वयं अहंभाव नहीं रखता। उसे सर्वत्र विवेक वर्तता है, परंतु उसका अर्थ ऐसा नहीं है कि वह सब जगह नमस्कार करता है। फिर भी उसको अहंभाव छूट जाता है। मुझमें यह गुण तो है न? - ऐसा अहंभाव उसको नहीं होता, किंतु मुझे अभी बहुत करना बाकी है ऐसी विनम्रता होती है। द्रव्य अपेक्षासे सिद्ध भगवान् समान हूँ, परंतु पर्यायमें पामर हूँ, ऐसी विनम्रता अंतरमें आ जाती है। - यह दासत्वका अर्थ है। मैं पर्यायमें पामर हूँ, मेरी पर्यायमें बहुत अपूर्णता है, मुझे बहुत करना है ऐसी नम्रता होती है; परंतु मैंने यह कर लिया है और मुझमें यह है ऐसा अहंभाव नहीं होता।

दासत्वका ऐसा अर्थ नहीं है कि सबका दास हो जाना और सबको नमस्कार करना। दूसरोंके दोष देखनेकी अपेक्षा अपने दोष देखना कि मैं पर्यायमें पामर हूँ; वह आत्मार्थीका लक्षण है। दूसरोंको दोषबुद्धिसे देखनेकी अपेक्षा तू स्वयं अपनेमें कहाँ अटका हुआ है और तुझमें क्या त्रुटि है उसे तू देख। दूसरोंके दोष देखनेमें नहीं अटकना। 'जगत्को अच्छा दिखानेका प्रयत्न किया, परंतु तू स्वयं अच्छा नहीं हुआ' ऐसा श्रीमद्जीने कहा है। जगत्को अच्छा दिखानेका प्रयत्न किया, परंतु तू स्वयं अंतरसे अच्छा हुआ है या नहीं? - वह तुझे अंतरमें देखना है। तुझे स्वयं अंतरमें गुण प्रगट करने हैं, अंतरंग शुद्धि करनी है। द्रव्यको पहिचानकर अंतरसे जिज्ञासा एवम् लगन लगाकर आत्माकी ओर तेरा झुकाव कितना होता है उसकी - उपादानकी तैयारी करनी है। श्रीमद्जीके इस वाक्यमें गूढता भरी है। गुरुदेवके प्रतापसे स्पष्टता हुई है। गुरुदेवने समयसारादि शास्त्रोंके तथा आत्माके-वस्तुस्वरूपके रहस्य खोले हैं जिससे सब कुछ स्पष्ट हो गया है। ६५२.

*

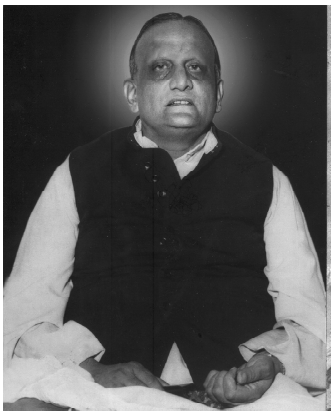

द्रव्यदृष्टि प्रकाशमें से 'आत्मा कैसे प्राप्त हो' सम्बन्धित पूज्य श्री निहालचंद्रजी सोगानीजी के चयन किये गये वचनामृत

अपने त्रिकाली अस्तित्व में अपनापन होनेसे पर्यायबुद्धि छूट जाती है। (२५)

*

प्रश्न :- शुरुआतवाले को अनुभव के लिए कैसे प्रयत्न करना ?

उत्तर :- 'मैं' परिणाम मात्र नहीं हूँ; त्रिकाली-ध्रुवपने में अपनापन थाप देना (स्थापित करना) यही उपाय है। (अनादि पर्यायबुद्धि सहित मुमुक्षु जीव उपदेशबोध के अनुसार अपनी भूमिका योग्य परिणाम से प्रारंभ करता है, परंतु सर्व प्रथम पर्यायमें से अस्तित्व उठा करके द्रव्यस्वभाव में अस्तित्व स्थापित करना है - ऐसा लक्ष्य प्रारंभ से ही रहना अत्यावश्यक है, वरना पर्यायबुद्धि दृढ़ हो जानेसे द्रव्यदृष्टि उत्पन्न होनी मुश्किल हो जाती है, और मुमुक्षुता में ही मनुष्य आयु पूर्ण हो जाती है और भवभ्रमण का छेद नहीं होता।) (७०)

*

EH$hr "‘ mÕa H$s (**master key**) है; सब बातों में - सभी शास्त्रों में एक ही सार है - 'त्रिकालीपने में अपनापन जोड़ देना।' (९०)

*

(आत्मप्राप्ति कैसे होवे ? - इस विषय में जिज्ञासापूर्वक पूछे गये प्रश्न का विस्तृत उत्तर :-)

रुचि में खरेखर अपनी जरूरत लगे तब अपनी वस्तु की प्राप्ति हुए बिना नहीं रहती। चौबीसों घण्टों चिंतन में - बेचिंतन में एक यही (स्वरूप का घोलन) चलता रहे। जिस विषय की रुचि होती है, वह विषय सैकड़ों बाह्य कार्य करते हुए भी चलता ही रहता है। बाहर का उपयोग तो ऊपरी-ऊपरी तौर से चलता है, उसमें जाग्रति नहीं रहती; जिस विषय की रुचि है उसी में जाग्रति रहती है। सैकड़ों कार्य करते रहने पर भी सभी की गौणता ही रहा करती है; मात्र रुचि का विषय ही सदा मुख्य रहता है।

विकल्पात्मक विचार में भी 'शरीराकार चैतन्यमूर्ति' को टाँक दो.... 'मैं तो यही हूँ।' सुख-दुःख की जो कोई पर्याय हो, उसकी उपेक्षा रखो। 'मैं तो यही हूँ' - विचार चले, उसकी भी गौणता रखो। 'मैं तो वैसा का वैसा ही चैतन्यमूर्ति हूँ' - बस ! यही दृढ़ता करते रहो।

सुनना, शास्त्र पढ़ना आदि सभी की गौणता होनी चाहिए; एकांत का ज्यादा अभ्यास रहना चाहिए (ताकि स्वरूपघोलन बढ़े।)

यह (सम्यक्त्व) प्राप्त नहीं हुआ तो जीव निगोद में चला जाएगा - ऐसे निगोद के भय से, अपना कार्य करना चाहे तो वो यथार्थ नहीं। परंतु (अभिप्राय में) निगोद की अवस्था हो या सिद्ध की, 'मेरा' तो कुछ भी बिगाड़-सुधार नहीं ('मैं' अवस्थारूप नहीं,) - ऐसी 'मैं अचलित वस्तु हूँ' - ऐसी श्रद्धा जम जानी चाहिए। पर्याय कैसी भी हो उसकी उपेक्षा ही रहनी चाहिए।

'परद्रव्य के साथ में तो कुछ संबंध ही नहीं' ऐसा तो पक्ष होना चाहिए; बाद में वस्तु (त्रिकाली ध्रुव) और परिणाम (उत्पाद-व्यय) इन दो के विचार में ही सब समय लगा देना है।

चौबीसों घण्टों....बस यही (स्वरूप का घूँटण) चलना चाहिए। प्रवृत्तिभाव को गौण करके इस एक ही की मुख्यता चलनी चाहिए - यही प्रयास निरंतर चलना चाहिए। (२५०)

‘श्रीमद् राजचंद्र’ ग्रंथकी महिमाका एक प्रसंग....

...‘गुरुदेवश्री’ ने तो बहुत महिमा किया है, इसमें तो कोई सवाल ही नहीं है। यानी कि वास्तवमें अध्यात्मकी पराकाष्टा क्या है? कि आत्माका आश्रय ले सके ऐसी मोक्षमार्गकी बात उनके वचनोंमें उपलब्ध है। और मैंने तो सीधा ही पूछा था। ‘गुरुदेवश्री’ को तो मैंने सीधा ही पूछा था। और तब बहुत ही प्रसन्नतासे यह बात पर गुरुदेवश्रीने अपनी सहमती दी थी कि, वाकई ऐसा ही है कि, ‘श्रीमद्जी’ के वचनोंमें मोक्षमार्ग अखण्डरूपसे मौजूद है। मैंने शब्द तो ऐसे इस्तेमाल किये थे। उन शब्दोंको मैं आज भी नहीं भूला। अखण्ड मोक्षमार्ग उनके वचनोंमें है कि नहीं ? (तो कहा) ऐसा ही है। अखण्ड मोक्षमार्ग उसमें मौजूद है। बस! बात पूरी हो जाती है। जब अखण्ड मोक्षमार्ग उपलब्ध है तो वह शास्त्र है, वह आगम है और वंदनीय है, पूजनीय है। जिसे आत्माका कल्याण करना हो उनके लिए...(पर्याप्त है)

...‘सोनगढ़’ में भी इस ग्रंथका बहुमान किया गया है और चांदीमें कवर करके स्थापित किया था। ‘सोनगढ’ में आज भी उपलब्ध (है) परन्तु वह प्रगटरूपसे खुले में नहीं रखा है। पहले तो खुलेमें दर्शन हेतु रखा गया था। मेरे प्रवेशके समय खुलेमें दर्शनके लिए रहता था। काँचके **case** में रखा था। काँचके **case** में दोनों ग्रंथोंको रखा जाता था। दो भागोंको चांदीका कवर करके स्थापित किये थे। इतना बहुमान किया हुआ है।

हमारे यहाँ (भावनगरमें) चांदीका कवर करना अभी बाकी है। ‘गुरुदेवश्री’ ने तो चांदी में करा लिया था।

(राजहृदय भाग -१९, प्र. नं. ४१८ में से)

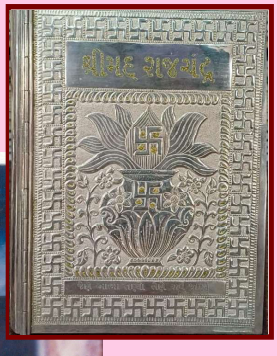

...तत् पश्चात उनकी उक्त भावनाके फलस्वरूप कुछ ही दिनोंमें श्री दिगंबर जैन मंदिर, भावनगरमें ‘श्रीमद् राजचंद्र’ ग्रंथको चांदीमें करके उसकी स्थापना करते हुए पूज्य भाईश्री शशीभाई...

REGISTERED NO. : BVHO - 253 / 2021-2023
RENEWED UPTO : 31/12/2023
R.N.I. NO. : 69847/98
Published : 10th of Every month at BHAV.
Posted at 10th of Every month at BHAV. RMS
Total Page : 20

'सत्पुरुषों का योगबल जगत का कल्याण करे'

श्री शशीप्रभु साधना स्मृति मंदिर
भावनगर

स्वत्वाधिकारी श्री सत्श्रुत प्रभावना ट्रस्ट की ओर से मुद्रक तथा प्रकाशक श्री राजेन्द्र जैन द्वारा अजय ऑफसेट, १२-सी, वंसीधर मिल कम्पाउन्ड, बारडोलपुरा, अहमदाबाद-३८० ००४ से मुद्रित एवम् ५८० जूनी माणिकवाडी, पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी मार्ग, भावनगर-३६४ ००१ से प्रकाशित
सम्पादक : श्री राजेन्द्र जैन -09825155066

If undelivered please return to ...
Shri Shashiprabhu Sadhana Smruti Mandir
1942/B, Shashiprabhu Marg, Rupani,
Bhavnagar - 364 001

Printed Edition :
Visit us at : http://www.satshrut.org